International Research Journal of Human Resources and Social Sciences
Vol. 3, Issue 12, December 2016 Impact Factor- 5.414
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
© Associated Asia Research Foundation (AARF) Publication
Website: www.aarf.asia Email : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

नाट्यधर्मी व लोकधर्मी नाट्यों का प्रारम्भ

डॉ. सरस्वती चतुर्वेदी
एम. फिल, म्यूजिक वोकल
पी. एच. डी., म्यूजिक वोकल

नाट्य से तात्पर्य

अनादिकाल से ही हमारा भारत देश संगीत, नृत्य, शिल्प, काव्य और नाट्य आदि कलाओं में अग्रणी रहा है।[1] ईसा से पांच हजार वर्ष पूर्व भरत कृत नाट्यशास्त्र नाट्य समीक्षा के रूप में सामने आया जो भारत में नाट्य की सैंकड़ो वर्ष पूर्व की समृद्ध नाट्य परम्परा का परिचायक है। नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त भी नंदीकेश्वर, धनंजय, अभिनव गुप्त के अनेक नाट्य ग्रन्थ हमारी शास्त्रीय नाट्य परम्परा को दिशा देते रहे हैं। यद्यपि इन नाट्य ग्रन्थो में लोकनाट्य परम्परा की विशेष चर्चा नहीं की गई, फिर भी यत्र–तत्र उपरूपकों, भान संगीतक, श्रीगदित, रासक, चर्चरि आदि नामों से कुछ ऐसे नाट्य प्रकारों के उल्लेख मिलते हैं, जो कभी क्षेत्रीय नाटकों के रूप में अत्यन्त लोकप्रिय थे।[2] जब शेक्सपीयर अंग्रेजी नाटक के साथ भारत आया तब भी हजारों लोग नाटक हमारे देश में प्रचलित थे। इन लोक नाटकों ने भारत को आज भी गौरवपूर्ण स्थिति में प्रतिष्ठापित किया है।[3]

लोकनाट्य शब्द 'लोक' और 'नाट्य' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'लोक' से तात्पर्य जनसाधारण से है तथा 'नाट्य' हमारे जीवन की विभिन्न स्थितियों की अनुकृति होती है। लोक जीवन में लोकनाट्य से तात्पर्य उस सांस्कृति विधा से है जिसमें आनन्द एंव उल्लास के अवसरों पर सामूहिक अभिव्यक्ति का सहज अनुकरण हो। लोकनाट्य लोक की सांस्कृतिक धरोहर है। यह एक सामाजिक एंव सामूहिक कला है, जिसका व्यवस्थापक समाज है तथा दर्शक भी समाज है। समस्त लोकनाट्यों में लोक रूचि, भावना, लोकाचार एंव लोक दृष्टि का प्राधान्य रहता है। अतः लोकनाट्य समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिभाओं के सम्मिलित चम्तकार का साकार स्वरूप होता है जिसमें जन जीवन की भावनाओं तथा उपलब्धियों की प्रतिच्छाया होती है।[4]

लोकनाट्यों की परम्परा त्रेता युग से प्रारम्भ मानी जाती है। जम्बूदीप (भारवतर्ष का पूर्व नाम) में जब सम्पूर्ण लोक ईर्ष्या, क्रोध, काम और लोभ से आक्रान्त हो गया, तब देवताओं के आग्रह से नाट्य की उत्पति 'ब्रह्मा' जी ने की। इस तथ्य को भरतमुनि ने अपने निम्नांकित श्लोक में व्यक्त किया है :–

देवदानवगन्धवैं रक्षोयक्ष्महोरगैः।

जम्बूदीपे समाक्रान्ते लोकपाल प्रतिष्ठिते।।10।।[5]

भावार्थ

लोकपालों से प्रतिष्ठित जम्बूदीप भी देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष तथा महान नामों से आक्रान्त हो गया। उस समय देवताओं के प्रमुख इन्द्र ने पितामह (ब्रह्मा) से कहा कि हम ऐसा मनोरंजन का साधन चाहते हैं जिसे देखा भी जा सके और सुना भी जा सके, वेदों का व्यवहार और श्रवण शुद्धों के द्वारा नहीं किया जाता है, अतः आप ऐसे पांचवे वेद की रचना कीजिए, जो सभी (चारों) वर्णों के लिए हो। उसमें ऐसा ही होगा कहकर इन्द्र को विदा करने के बाद तत्वज्ञानी ब्रह्मा जी ने समाधिस्थ चारों वेदों का स्मरण किया। ''धर्म अर्थ तथा यश की प्राप्ति करने वाले शास्त्र वचनों के प्रमाण सहित उपदेश से युक्त लोक के भविष्य में कर्मो का अनुदर्शक, सभी पर आधारित इतिहास सहित में पांचवे वेद की रचना करता है''– नाट्य वेद की परम्परा के समष्टिगत चिन्तन का सारभूत ग्रन्थ है किन्तू इसका विस्तार क्षेत्र बहुत व्यापक है। वस्तुतः यह ग्रन्थ भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा एंव संस्कृति का ज्ञानकोश है।

सभी दृश्यावली में नाट्य कला इसलिए प्रमुख है, क्योंकि इसमें पांच दर्शित दृश्यावली में स्थापत्यकला और चित्रकला का सहयोग होता है। नाट्य संवाद के गायन और नृत्य में संगीत काव्य और अभिनय का तीनों का समावेश होता है, जो ब्रह्मानंद सहोदर होती है। भरतमुनि ने कहा है कि नाट्य वह है जिसमें सातों दीपों के निवासियों देवताओं, असुरों, राजाओं, ऋषिओं और गृहस्थों के कार्यों एंव वृतान्तों का अनुकरण या प्रदर्शन हो।

नाट्यधर्मी व लोकधर्मी नाट्य

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्यधर्मी एंव लोकधर्मी दो प्रकार के नाट्यों का उल्लेख किया है तथा अभिनय के द्वारा लोकजीवन एंव लोक व्यवहार के सभी यथार्थ रूपों को जिस माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है, उसे लोकधर्मी नाट्य कहते हैं। लोकधर्मी नाट्य में लोक भाषा, संस्कृति, व्यवहार, परम्परा, कला एंव अनुष्ठान आदि सभी निहित रहता है। धार्मिक एंव लौकिक इन दोनों की लोकनाट्य रूपों सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक एकता व मानवीय जीवन के विकास के साथ इनके दोहन की प्रतिरोधी अभिव्यक्ति भी होती है। जिसका जीवन की सार्थक पुनरचना, सामाजिक, संस्कृति, सरंचना, परम्पराओं की स्थापना, उन्नयन एंव साम्प्रदायिक सौहार्द्र में लोकनाट्यों का महत्वपूर्ण योगदान होता है।[6]

जो भी शास्त्र, धर्म, शिल्प एंव क्रियाएं लोक धर्म से प्रवृत होती हैं, उसे ही नाट्य कहते हैं –

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोक धर्म प्रवृतानि नाट्यमित्यभिसंज्ञितम।।

ऐसा लगता है कि नाट्य–रचना और उसको प्रस्तुत करने के लिए जितने भी विधान भरत द्वारा निर्दिष्ट हुए फिर चाहे वह रंगमंच का निर्माण हो, रंग सज्जा हो, पात्रों की वेशभूषा एंव अलंकरण हो या अभिनय उन सभी में उनका लोकधर्मी आग्रह स्थान–स्थान पर प्रकट हुआ है। वैसे शास्त्रकारों में यह प्रवृति हुआ करती है कि वे अपने ज्ञान और अभिजात्य के गर्व में अपने निष्कर्ष एंव निर्णय को अन्तिम एंव श्रेष्ठ मानकर लोक प्रचलित मान्यताओं और प्रवृतियों का तिरस्कार करते हैं। जबकि आयार्च की आस्था मूलतः लोक धर्म के प्रति है और उन्होंने इसी आधार पर अपनी नाट्यधर्मी परम्परा को विकसित किया है। हमें एक भी कथन ऐसा नहीं मिलता, जहां भरत लोक धर्म के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण रखते हो, बल्कि वे तो यहां तक कहते हैं कि जिस वस्तु का मैंने उल्लेख नहीं किया है, उन्हें 'लोक' से ग्रहण करना चाहिए और जो कुछ नाट्य शास्त्र में नहीं कहा गया है, उसे लोकानुकृति के आधार पर उसकी सम्भावना करनी चाहिए :–

''नोत्रानि यानि च मया लोकाद्वहयाणि तान्यपि।
एंव नाट्यप्रयोगे बहुविधिविहितं कर्मशास्त्र प्रणीत''।।

लोकवार्ता व्यक्तियों पैत मंगलीला विवर्जितम् अर्थात स्वभावज भावों से युक्त किसी प्रकार के विकार से हीन, लोकवार्ता, लोकप्रिया से युक्त अंग विन्यास तथा लीला से विहीन, सहज अभिनय और नाना स्त्री–पुरूषों से युक्त जो नाट्य होता है, वह लोकधर्मी नाट्य कहलाता है।

प्रस्तुत विवेचना से भरत ने सहज स्वभाव, लोकवार्ता (कथानक), लोकप्रियता लीला (अंगिक चेष्ठा एंव अभिनय) और विविध पात्रों की योजना को लोकधर्मी नाट्य प्रमुख आधार माना है। ऐसा लगता है कि भरत अपने विवेचन में 'नाट्य' शब्द का प्रयोग करते समय उनका एक विशिष्ट प्रयोजन रहा होगा।

लोकोत्तर अर्थात अपनी सहज स्थिति से हटकर जहां अति होती है, जैसे अतिवाक्य, अतिक्रिया, अतिसत्व, अति भाषित इन सबसे युक्त, लीला अंग–हार–अभिनय से सम्पन्न, नाट्य–लक्षण से सम्पृक्त, स्वर–अलंकार और मनुष्य पात्रों से युक्त नाट्य, नाट्यधर्मी होता है।

अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्वाति भाषितम्।
लीलांगहारभिनयं नाटयलक्षणलक्षितम्।।
स्वरालंकार संयुक्तमस्वर्भू पुरूषाश्रयम्।
यदीधशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मीतु सासमृता।।[7]

नाट्यधर्मी से तात्पर्य यही हो सकता है कि नाट्य के सभी अंगो के स्वरूप का निर्धारण करते समय प्रकृत स्थिति से हटकर उसे कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाए। इस कला में सुरूचि और सौन्दर्य–बोध की प्रकृति का अतिरेक है, शास्त्रीय विधि–विधानों का बाहुल्य है और सामान्य लोकानुरंजन से हटकर किसी विशिष्ट उद्देश्य का आग्रह है।

इस प्रकार उपयुक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह सुरपष्ट है कि हमारे देश में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी नाट्य परम्परायें प्राचीन समय से चली आ रही है। निश्चित ही लोकधर्मी नाट्य परम्परा की जड़ें तुलनात्मक रूप से अधिक गहरी है।

सन्दर्भ

1. मेहता, ज्ञानवती वैद, लोकनाट्यों में संगीत , विकास प्रकाशन, बीकानेर, 2003 पृ सं.11
2. सामर देवी लाल, भारतीय लोकनाट्य, वस्तु और शिल्प, भारतीय लोककला मण्डल उदयपुर 1976, पृ सं. 75
3. सामर, देवीलाल, लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएं, भारतीय लोककला मण्डल, उदयपुर, 1968, पृ. सं. 194
4. जायसपाल राधेश्याम, संगीत कला बिहार, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, पृ.स.27
5. पाण्डे राम, राजस्थान की लोककला, बी–424, मालवीय नगर, जयपुर, 2010, पृ.स.10
6. 'मधुर' शिवकुमार, भारत के लोकनाट्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1980 पृ.स.8
7. भानावत, महेन्द्र, लोकनाट्य परम्परा और प्रवृतियां, बाफना प्रकाशन, जयपुर 1971–72, पृ.स.206